SHODH SAMAGAM

ISSN : 2581-6918 (Online), 2582-1792 (PRINT)

अकेलेपन की अँधेरी गलियों में गुम होती हमारी पूर्व पीढी

रीता कुमारी,
+2 भोला उच्च विद्यालय, डेवढ़, घोघरडीहा, मधुवनी, बिहार, भारत

ORIGINAL ARTICLE

Corresponding Author :
रीता कुमारी,
+2 भोला उच्च विद्यालय, डेवढ़, घोघरडीहा,
मधुवनी, बिहार, भारत

shodhsamagam1@gmail.com

Received on : 19/08/2020
Revised on : -----
Accepted on : 27/08/2020
Plagiarism : 01% on 19/08/2020

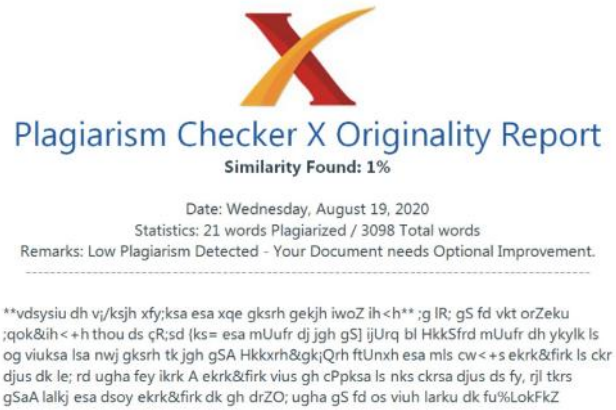

शोध सार :

वर्तमान वैज्ञानिक युग में हम उन्नति के शिखर पर बेरोक चढ़ते जा रहे हैं, किन्तु भौतिक उन्नति की लालसा में हम अपनी मानवीय संवेदनाओं को भी नजर अंदाज करते जा रहे हैं। हमारे रिश्ते–नाते टूटते–छूटते जा रहे हैं। अन्य रिश्तों को निभाना तो दूर की बात है, आज की युवापीढ़ी अपने माता–पिता से भी बात करने का समय नहीं निकाल पाती है। माता–पिता अपने ही बच्चों से दो बातें करने के लिए तरस जाते हैं। पूर्व पीढ़ी के पास समय तो पर्याप्त होता है, परंतु शारीरिक अस्वस्थता, मनोनुकूल कार्य का अभाव आदि के कारण उन्हें हमेशा खालीपन का एहसास होता है। उस पर से अपनी ही संतान द्वारा उपेक्षित और तिरस्कृत होना उन्हें अकेलेपन की अँधेरी गलियों में धकेल देती है। उन्हें लगता है कि उन्होंने जीवन को जी लिया है, उनके लिए जीवन में कुछ शेष नहीं बचा है। जीवन के उतार–चढ़ाव से मनुष्य उतना नहीं घबराता, जितना वृद्धावस्था में अकेले होने पर। प्रस्तुत शोध–आलेख में वृद्ध–मनोविज्ञान के अनेक अनछुए पहलुओं पर विमर्श का प्रयास किया गया है।

मुख्य शब्द :

पूर्वपीढ़ी, अकेलापन, व्यक्तिवाद, निजी स्वतंत्रता, हिन्दी कहानी और वृद्धावस्था, ऊब, अवसाद, सामंजस्य।

यह सत्य है कि आज वर्तमान युवा–पीढ़ी जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उन्नति कर रही है, परन्तु इस भौतिक उन्नति की लालसा से वह अपनों सें दूर होती जा रही है। भागती–हाँफती जिन्दगी में उसे बूढ़े माता–पिता से बात करने का समय तक नहीं मिल पाता। माता–पिता अपने ही बच्चों से दो बातें करने के लिए तरस जाते हैं। संसार में केवल माता–पिता का ही कर्तव्य नहीं है कि वे अपनी संतान का निःस्वार्थ लालन–पालन करें, बल्कि संतान का भी कर्तव्य है कि माता–पिता का आदर करें, उन्हें सम्मान दें, वृद्धावस्था में उनका सहारा बनें।

आधुनिक समाज में रिष्ते–नातों की डोर ढीली होती जा रही है। व्यक्तिवाद और निजी स्वतंत्रता के कारण रिश्तों में दूरियाँ बढ़ती जा रही हैं।

प्राचीन भारत में बुजुर्गों को जो स्थान प्राप्त था, आज वह बदलती सामाजिक परिस्थितियों के साथ बदलता जा रहा है। आज अधिकांश परिवारों में बुजुर्ग किसी कोने में पड़े अपने अंतिम समय की प्रतिक्षा में दिन काटते नजर आते हैं। उन्हें लगता है कि उन्होंने जीवन को जी लिया है, उनके लिए जीवन में कुछ शेष नहीं बचा है। भविष्य में कोई और बड़ी उपलब्धि उनके लिए नहीं है। वृद्धावस्था भी उम्र के अन्य दौरों की तरह ही एक दौर है जिसका सामना हर व्यक्ति को करना पड़ता है। बाल्यकाल अबोधता में बीत जाता है तो अपना पूरा यौवन धन कमाने, पारिवारिक जिम्मेदारियों को पूरा करने में लगा दिया जाता है। अंत में बचता है बुढ़ापा, जो घुट–घुटकर जीने को मजबूर कर देता है– ''कैसे कटेगा बुढ़ापा ?''

हमारी पूर्व पीढ़ी कहीं ऊब और अवसाद की शिकार हो रही है, तो कहीं अकेलेपन की अँधेरी गलियों में गुम होती जा रही है। हिन्दी कहानीकारों ने समय–समय पर अत्यन्त प्रामाणिकता के साथ वृद्धावस्था की इन समस्याओं का चित्रण अपनी कहानियों में किया है।

वृद्ध–मनोविज्ञान के अनेक अनछुए पहलुओं का रहस्योद्घाटन करनेवाली प्रमुख हिन्दीं कहानियाँ हैं– बूढ़ी काकी, माँ, सुभागी, बेटोंवाली विधवा, स्वामिनी (प्रेमचन्द), गुदड़ी में लाल, ममता, (जयशंकर प्रसाद), चीफ की दावत, यादें (भीष्म साहनी), दुःख का अधिकार, समय (यशपाल), कैलाशी नानी (सुभद्रा कुमारी चौहान), वसीत (भगवती चरण वर्मा, परमात्मा का कुत्ता (मोहन राकेश), आजादी (ममता कालिया), उधार की हवा (मृदुला गर्ग), मजबूरी (मन्नू भंडारी), पादुका पूजन (प्रतिभा राय), दादी का रिमोट (सूर्यबाला), दादी (शिवानी), ताई (विश्वंभरनाथ कौशिक), हरिहर काका (मिथिलेश्वर), वापसी (उषा प्रियंवदा), उसका आकाश (राजी सेठ), साधें (गोविन्द मिश्र), गेंद (चित्रा मुद्गल), अपना घर (रामधारी सिंह दिवाकर), बुढ़ऊ का आधुनिकीरण (गिरिश अस्थना), उसका जाना (दिनेश चन्द्र झा), यक्ष प्रश्न (दयानन्द पांडेय), साँझ का परिंदा (आदर्श मदान), बूढ़ा ज्वालामुखी (गिरिराज शरण अग्रवाल), पिता (ज्ञानरंजन), सीमेन्ट में उगी घास (दयानन्द अनन्त), शटल (नरेन्द्र कोहली), दादी का बटुआ (मंजुला भगत), मोहताज (रामकुमार भ्रमर), मौत के लिए एक अपील (साजिद रशीद), मुट्ठी भर धूल (मुरारी शर्मा), कितने दीनू कितने दीनानाथ (राजेश झरपुरे), माचिस की डीबिया (चन्द्रमौलेश्वर प्रसाद), खिड़की (राजेन्द्र कृष्ण), माई (हरि भटनागर), बस कब चलेगी (संजय विद्रोही), तिनकों का घोंसला (प्रतिमा वर्मा) आदि।

इन कहानियों के कथावस्तु की बनावट और बुनावट वृद्ध विमर्श को ध्यान में रखकर अत्यन्त बारीकी से की गयी है। कथाकार अपने मूल मन्तव्य को सर्वसाधारण तक पहुँचाने में सफल रहे हैं कि बुढापा व्यक्ति को उस समय बोझ लगने लगता है जब वह नितान्त अकेला रह जाता है। जीवन के उतार–चढ़ाव से मनुष्य उतना नहीं घबराता जीतना वृद्धावस्था में अकेले होने पर। जैसे–जैसे मनुष्य वृद्धावस्था की दहलीज पर पहुँचता जाता है, वैसे–वैसे संसार उसे एक बेकार सामान के समान एक कोने में डाल देता हैं। नित्य परिवर्तनशील भाग–दौड़ भरी जिन्दगी में युवा पीढ़ी हद से ज्यादा व्यस्त है। बुजुर्गो से बातचीत करने, उनके पास दो पल बैठने के लिए उनके पास समय ही नहीं होता। टी0वी0, मोबाईल और पढ़ाई के बोझ तले दबे बच्चों के पास भी अपने दादा–दादी के पास कुछ समय बैठने की फुर्सत नहीं होती है। ये सारी बातें वृद्धों को अकेला छोड़ देती है। इससे आपसी संबंधों में अन्तराल बढ़ता चला जाता है और जीवन की लय टूटती चली जाती है।

रिश्ते स्वार्थ की पूर्ति के बाद किस प्रकार बदल जाते है, इसे बुजुर्गों से ज्यादा कौन जान सकता है। प्रेमचन्द की कहानी 'बूढ़ी काकी' में बूढ़ी काकी अपनी सारी जमीन जायदाद अपने भतीजे के नाम कर देती है, लेकिन सम्पति मिलते ही वह एक दम बदल जाता है। काकी की सम्पति की आय के बावजूद उन्हें दो वक्त का भोजन भी ठीक ढ़ंग से नहीं मिलता, सम्मान तो दूर की बात है– ''भतीजे ने संपति लिखते समय तो खूब लंबे –चौड़े वादे किये, परन्तु वे सब वादे केवल कुली डिपो के दिखाए हुए सब्जबाग थे। यद्यपि उस सम्पति की आय डेढ़–दो सौ रुपये से कम नहीं थी, तथापि बूढ़ी काकी को पेट–भर भोजन भी कठिनाई से मिलता था।''[1]

अपने आपको अपने ही बच्चों के बीच में गैरों के समान पाकर बुजुर्ग हताश हो जाते हैं। परिवार भी वही है,

लोग भी वही हैं लेकिन बच्चे अब बड़े हो गये हैं और माँ–बाप बूढ़े। अपने परिवार को सजाने–सँवारने के लिए पिता ने अपना सारा जीवन लगा दिया। जिस घर की एक–एक ईंट उसके खून पसीने की कमाई से लगायी गयी थी, आज उस घर में उनके लिए एक कमरा तक नहीं रह गया। ऐसे स्थितियों से उनमें हताशा छा जाती है। उषा प्रियंवदा की कहानी 'वापसी' के गजाधर बाबू के अपने ही घर में ठहरने के लिए जगह नहीं मिल पाती– ''अगले दिन वह सुबह घूमकर लौटे तो उन्होंने पाया कि बैठक में उनकी चारपाई नहीं है...। पत्नी की कोठरी में झाँका तो अचार, रजाइयों और कनस्तरों के मध्य अपनी चारपाई लगी पायी।..... गजाधर बाबू ने कोट उतारा और कहीं टाँगने को दीवार पर नजर दौड़ायी। फिर उसे मोड़कर अलगनी के कुछ कपड़े खिसकाकर एक किनारे टाँग दिया। कुछ खाए बिना ही अपनी चारपाई पर लेट गए। कुछ भी हो, तन आखिर बूढा ही था।''[2]

गजाधर बाबू अपने घर परिवार में एकदम अकेले हो जाते हैं। पत्नी और बच्चों के रूखे व्यवहार को देखकर समझ नहीं पाते कि क्या यह वही परिवार जिसके लिए उन्होंने जीवन के साठ साल लगा दिए? परिवार के लिए वे केवल धनोपार्जन का साधन मात्र बनकर रह गये है।

गोविन्द मिश्र की कहानी 'साधें' सम्मान और अपनेपन की जगह ऐसे ही रुखेपन और संबंधों की निरर्थकता को दर्शाती है– ''हर तीसरे महीने कहीं जाने का बन जाता है, कहीं मन से कहीं बेमन से। इसलिए कि सबको जाना है और उन्हें अकेले नहीं छोड़ा जा सकता। हर नई जगह अलग कमरा कहाँ .... एक चारपाई मिल जाती है। जिसके नीचे रख लो अपनी अटैची। जो गृहस्थी उनके कस्बे वाले पूरे घर में फैली रहती थी, वह एक छोटी–सी अटैची में बंद एक किनारे पड़ी रहती है।''[3]

संतान, जिसके लिए माता–पिता ने न जाने कितनी रातें जाग–जागकर काटी थी कि उनकी संतान को किसी प्रकार की कोई तकलीफ न हो। वही संतान बड़ी होकर अपने बूढ़े माँ–बाप के लिए तनिक भी समय नहीं दे पाती। चित्रा मुद्गल की कहानी 'गेंद' में चटर्जी दी की मृत्यु के पश्चात् जब सावित्री बहन उसके छोटे बेटे को इसकी सूचना देती है और पूछती है कि अब क्या करना है। चटर्जी दी के पार्थिव शरीर को उनके पास मेज दे या नहीं। बेटे का कथन है कि जो कुछ करना है सब आश्रम में ही कर लें– ''बेटे ने स्पष्ट कह दिया – जो होना है, आश्रम में ही होगा। उन्हें चन्डीगढ़ ले जाने का प्रश्न ही नहीं उठता।''[4]

'बूढ़ी काकी' की तरह मिथिलेश्वर के 'हरिहर काका' के घर में पकवानों के पकने के बाद भी उन्हें रुखा–सूखा भोजन परोसा जाता है। काका के भाई किसी भी हाल में उनकी जमीन को छोड़ना नहीं चाहते। वे लोग उनके मरने की प्रतीक्षा करते हैं।

माता–पिता अपने बच्चों को पालने–पोसने, उनके भविष्य को बनाने के लिए अपनी खुशियों का बलिदान कर देते हैं। जब वही माता–पिता वृद्ध हो जाते हैं, तब वही बच्चे उन्हें फूहड़, गँवार और बेकार की वस्तु समझकर घर के एक कोने में बिठा देते हैं। 'चीफ की दावत' में शामनाथ अपनी बूढ़ी माँ को अपनी झूठी शानोशौकत में बाधा समझता है। उन्हें हिदायत भी देता है कि वो जल्दी खाना खाकर सो जाए, कमरे में ही रहे, चीफ के सामने कदापि न आए। जब माँ ऐसा नहीं कर पाती है, तब उसकी पशुता उजागर होती है– ''जी चाहा कि माँ को धक्का देकर उठा दें, और उन्हें कोठरी में धकेल दें।''[5]

आश्चर्य है कि एक तरफ तो बुजुर्गो को नाकारा समझकर परे हटा दिया जाता है, तो दूसरी तरफ उन्हीं नाकाराओं को घर के कामों में लगा दिया जाता है। ये काम घर के अन्य सदस्यों के साथ बोलते – बतियाते, हँसते – गाते नहीं, बल्कि अकेले–अकेले औपचारिक ढंग से किसी नौकर की तरह करना पड़ता है। ''जिस प्रकार कोई भी सुधड़ गृहिणी फटे–पुराने वस्त्रों से झाड़न–पोछा या फिर समीज दुपट्टा आदि बनाकर उसे उपयोगी बना लेती है, उसी तरह बुढ़ापा भी घर में एक हद तक अनुपयोगी होने पर भी घर की चारदीवारी में कुछ अधिक ही उपयोगी सिद्ध होने लगता है। न चाहते हुए भी वह घर की चौकीदारी अच्छी तरह निभा लेता है, घर का चौका सुधर जाता है, वह हाट–बाजार हो आता है। ऐसे ही दुनियाँ–भर के कामों के लिए नौकर–चाकर का खर्चा नहीं झेलना पड़ता। बहू–बेटों को सवेरे–सवेरे उठकर भाग–दौड़ नहीं करनी पड़ती, पहले ही पानी–वानी भर लिया जाता है। दूधवाले के आने पर या उसके यहाँ जाकर दूध ले लिया जाता है। ऐसे ही तमाम छोटे–मोटे कामों के लिए घर की मेम साहब को परेशान नहीं होना पड़ता।''[6]

दयानंद पांडेय की कहानी 'यक्ष प्रश्न' की बड़की दी अन्नू के पास जाकर रहती है, तो वहाँ भरा–पूरा परिवार होने पर भी वे अपने आप को अकेला महसूस करती हैं, क्योंकि घर के सभी सदस्य काम पर जाते हैं और बच्चे अपने स्कूल– ''मैं सारा दिन घर पर अकेले बैठी रहती, न कोई बोलनेवाला न कोई हालचाल पूछनेवाला– फिर मैं यह भी नहीं समझ पाती कि अन्नू मेरी देखभाल के लिए मुझे अपने पास ले गया है कि अपने बच्चे की देखभाल करने के लिए मुझे लाया है। और मुझे हर बार यही लगता है कि अन्नू बच्चे की देखभाल के लिए ही मुझे लाया है।''[7]

अधिकांश परिवारों में जैसे ही माता–पिता वृद्ध हो जाते है, उन्हें अलग–अलग कमरे दे दिए जाते है। कोई घर के अन्दर बच्चों के साथ सो रहा है, तो कोई घर के बाहर। आखिर वृद्ध भी तो इन्सान ही हैं। वृद्धावस्था में यदि पति–पत्नी का साथ रहे तो वे दोनों एक–दूसरे को अपने दिल की बातें कहकर कम–से–कम अपने मन का बोझ तो हल्का कर लेते है। वृद्धावस्था का सबसे बड़ा दुःख है अकेले रह जाना। घर में बच्चों का तिरस्कार उन्हें जीते जी मार देता है। वे जीते तो हैं, पर घुट घुटकर। माता–पिता की देखभल को भी बेटे–बहू आपस में बाँट लेते हैं; अर्थात् इतने दिन हमने इनकी देखभाल की अब तुम करो। जब उनकी संपत्ति में से सबको बराबर का हिस्सा मिला है, तो फिर सभी उनकी देखरेख करें, हम ही अकेले क्यों करें।

नरेन्द्र कोहली की कहानी 'शटल' के ईशरदास को पता है कि उसके बेटे माँ को नहीं बल्कि माँ के रुप में एक मुफ्त की आया चाहते है। भगवन्ती के चले जाने से ईशरदास उस घर में एकदम अकेला हो जाता है। घर में उससे कोई बात नहीं करता। उसे अपना अकेलापन खलता है। उसके दोनों बेटे बुढापे में माँ–बाप को अलग करने पर तुले हुए है। बड़ा बेटा माँ को यह कहकर ले जाता है कि उसकी पत्नी की तबीयत खराब है। ईशरदास छोटे बेटे के पास रहता है। वह अक्सर सोचता है कि ''उसके ये बेटे, जिनकी शादियों को दो–दो, चार–चार साल हुए हैं, वे यह क्यों नहीं सोचते कि उनके बाप की शादी को पैतीस साल हो गये हैं। ये साले अभी से अपनी बीवियों से एक दिन भी अलग नहीं रह सकते, तो वह जिसने पैतीस साल में अपने आप को एकदम आश्रित बना लिया है– कैसे भगवन्ती के बिना रह सकता है? बुढापे में और कोई साथ बैठकर प्रसन्न भी नहीं है; वे उसकी पैंतीस वर्षों की संगिनी को भी उससे अलग करने पर तुले हुए हैं।''[8] ''वे चाहते हैं कि उनकी माँ भगवन्ती जाकर उनके पास रहे, उनके बच्चों को सभ्भाले। उनकी रोटियाँ पका दिया करें। सालों को साहबी सूझती है। बीबियों से काम कराने में कलेजे में टीस उठती है। इतनी ही साहबी है तो रखे नौकर, रखे आया ! वह तो होगा नहीं; चाहेंगे कि माँ के रुप मे रोटी भर देकर सस्ती और विश्वसनीय नौकरानी का इन्तजाम कर लें।''[9]

'मोहताज'(रामकुमार भ्रमर) की राधा अपने बेटे के पास शहर में रहने के लिए आती है लेकिन यहाँ आकर उसे वह अपनापन नहीं मिलता, जिसकी उसे चाह थी। यहाँ बच्चे अपने–अपने कामों में व्यस्त रहते हैं। उस परिवार में वह एक अजनबी की तरह रह रही है। राजेश झरपुरे की कहानी 'कितने दीनू कितने दीनानाथ' में रिश्तों की उदासीनता झलकती है –''मैं समझा था इतनी रात तक मुझे घर पर लौटा हुआ न पाकर तुम सब परेशान हो उठे होंगे'' सब अपने–अपने तरीके से मुझे ढूँढ रहे होंगे।''[10] 'उसका जाना' में यह उदासीनता एक कदम और आगे नजर आती है –''रिक्शा आँखों से ओझल हो गया तो सभी एक साथ बैठक में लौट आए। सोफे पर पसरतें हुए बड़े इत्मीनान की लंबी साँस ली ह.... गई अम्माजान। चली गई आखिर।''[11] 'उसका आकाश' (राजी सेठ) में वृद्व पिता, जो पक्षाघात की बीमारी का शिकार हैं, अपने कमरे में अकेले पड़ा रहता है। वह इस घर में सिर्फ उस पुराने सामान की तरह है जो घर के किसी एक कोने में पडा रहता है, उस सामान से किसी का कुछ लेना देना नहीं होता। 'साँझ का परिंदा' (आदर्श मदान) में बाबा सा के हाथ को एक कपड़े की लम्बी–सी पट्टी से बाँधकर रेलिंग से बाँध दिया गया गया था ताकि वे निश्चित परिधि में ही घूमते रहें।

उल्लेखनीय है कि जन्म से लेकर वृद्धावस्था तक की जीवनयात्रा में मनुष्य इतना कुछ सीखता है कि युवा पीढी उसके प्राप्त ज्ञान का सही ढंग से प्रयोग कर सके तो उसकी आधी समस्याएँ सुलझ जाएँगी– ''वृद्ध एक स्मृति, एक संस्कृति और अनुभव है। इतिहास ने उसकी देह पर पाँव रखकर अपना रास्ता तय किया है। वृद्ध को समझना और सहेजना एक संपूर्ण जीवन को समझना और सहेजना है। जन्म से लेकर मृत्यु तक की अन्तर्यात्रा के बिना जीवन का पूरा अर्थ कहाँ खुलता है ?''[12]

''जिन वृद्धों को अपना घर छोड़कर बच्चों के घर में या वृद्धाश्रम मे बसने के लिए कहा जाता है, उन्हें ऐसा लगता है मानों उन्हें जड़ से उखाड़कर फेंक दिया जा रहा हो। तब उन्हें न तो अपनी जमीन मिलती है और न अपने जीने के तरीके की स्वतंत्रता ही मिल पाती है। वे अपने आपको किसी के अधीन महसूस करने लगते हैं। जिनका अपना घर और अपना समय है, वे बगीचे को सँवारने और घर की देखभाल करने में समय बिताते हैं।''[13] ''जब वे घर से निकाल दिए जाते हैं तो निपट एकाकी, असहाय, निराश्रित स्थिति में घिसट–घिसटकर जिन्दगी के रहे–सहे दिन पूरे करते हैं और अगर सारा अपमान पीकर किसी तरह घर में ही पड़े रहे तो उनकी हालत किसी नौकर से भी बदतर एकदम गुलामों जैसी हो गयी है, जैसे इसी को साबित करने के लिए वृद्धाश्रमों की परम्परा भी जोड़ पकड़ रही है; जो एक तरह से यही प्रमाणित करती है कि वृद्ध मात्र समाज के लिए नितान्त अनुपयोगी हैं। अब ये अनुभवी वृद्ध घर के लिए नितान्त निरर्थक और फालतू वस्तुमात्र होकर रह गये हैं, जिन्हें बरदाश्त करना सामान्य सहनशीलता के स्तर से परे है।''[14]

आदर्श मदान ने 'साँस का परिन्दा' में दर्शाया है कि जो व्यक्ति कभी अपने पूरे परिवार का मुखिया हुआ करता था, उसकी आज्ञा का पालन पूरा परिवार किया करता था; वही व्यक्ति वृद्धावस्था में अपने ही बच्चों के बीच अपने अस्तित्व की लड़ाई लड़ता रहता है– ''वक्त की चाल जितनी बेरहम होती है गति उतनी ही तेज। पता नहीं कब जिन्दगी के हसीन पड़ाव गुजर जाते हैं और सदाबहार की तरह खिला रहनेवाला, घर का केन्द्र बिन्दु–सा मुख्य व्यक्ति ही उपेक्षित होने लगता है। अब न कोई उससे बोलता है, न बतियाता है, न कोई हालचाल पूछता है। उस घर में आनेवाला हर व्यक्ति बाबा–सा से कतराकर निकल जाता है, मानो वे पागल हो या खाज का मरा कुत्ता हो, जिसके निकट कोई खड़ा नहीं रहना चाहता।''[15]

जब हमारी पूर्व पीढी अपने परिवार से ही मात खा जाती है, तो फिर वह पूरी तरह से टूट जाती है। जब दुःख हद से ज्यादा बढ़ जाता है, तब वह आँसुओं का रुप लेकर आँखों से छलक ही आता है। मृत्यु के निकट पहुँचते ऐसे वृद्ध बस मौत के लिए अपील करते हुए अपने दर्द को बयाँ करते हैं– ''अब न कोई समस्या है और न कोई उलझन, न कोई जिम्मेदारी है और न कोई बोझ है। अब मेरा जेहन बिल्कुल खाली हैं– अब जबकी मेरे वजूद का कोई मतलब ही नहीं रह गया है। तो फिर मैं क्यों जी रहा हूँ? जज साहब मैं मरने के लिए उस समय का इन्तजार नही करना चाहता जो धीरे–धीरे मेरे शरीर को बीमारियों की दीमक की तरह खोखला कर देगा और मुझे एक निरीह, अपंग बूढ़े की तरह अपने उन बच्चों पर आश्रित होना पड़ेगा, जिन्हें मुझसे स्नेह तक नहीं रहा। मैं उस जीवन की कल्पना से ही काँप उठता हूँ, जब मैं ईष्वर से गिड़गिड़ाकर अपने मृत्यु की प्रार्थना करने लगूँगा।''

हिन्दी कहानियों में चित्रित अधिकांश वृद्ध पात्र अपने आपको अकेला महसूस करता है। अकेलेपन से ग्रस्त होकर उनमें हताशा का भाव उत्पन्न होने लगता है। इन कहानियों में आपसी रिश्तों में उदासीनता, राग–विराग का द्वन्द, परायापन, अलगाव, वर्तमान से मोहभंग, अतीत के प्रति मोह आदि विविध पहलुओं का बहुआयामी और प्रामाणिक चित्रण किया गया है और इनकी सहायता से पूर्व पीढ़ी के अकेलेपन की करुण त्रासदी को सफलतापूर्वक चित्रित किया गया है।

पूर्व पीढ़ी की दषा और मनोदशा के यथार्थ चित्रण के क्रम में कुछेक हिन्दी कहानियाँ साकारात्मक पहलुओं को भी उजागर करती दिखाई देती हैं। ऐसा नहीं है कि आधुनिक समाज में प्रत्येक नौजवान अपने वृद्धों का आदर नहीं करता, उनसे विचार–विमर्श नहीं करता। कितने ही ऐसे परिवार मिल जाएँगें, जहाँ बड़े–बूढ़ों का सम्मान होता है। समय–समय पर उनसे सलाह–मशविरा भी किया जाता हैं। जब युवा पीढ़ी के लोग वृद्धों को पूर्ण आदर देते हैं, तो परिवार का माहौल सदैव खुशहाल बना रहता है। यदि सही सामंजस्य हों सके तो हमारे बुजुर्ग अपने परिवार ही नहीं बल्कि पूरे समाज के लिए उपयोगी हो सकते हैं। वृद्ध आपस में संवाद, साहित्य और अध्ययन में अपना समय बितातें है और अपने चिन्तन से समाज को मागदर्शन देते हैं। दरअसल, वृद्ध कोई वस्तु नहीं हैं जिसे एक कोने में शांति से रख दिया जाए। वृद्ध होने पर भी मनुष्य तो मनुष्य ही रहता है तथा उसकी भी कुछ–न–कुछ इच्छाएँ, आकांक्षाएँ भी होती ही हैं। सबसे बड़ी आवश्यकता तो यही रहती हैं कि वे अपने भरे पूरे परिवार के साथ जीएँ। परिवार के सभी सदस्य उनसे समानता के अधिकार के साथ व्यवहार करें, प्रेम और देखभाल करें बस। हमारी पूर्व पीढ़ी को भी पूर्ण मनुष्य की भाँति देखे जाने की जरूरत है, न कि मृत्यु की प्रतीक्षा करते किसी यात्री की तरह।

निष्कर्ष :

वस्तुतः घोर व्यक्तिवाद और निजी स्वतंत्रता के कारण रिश्तों में दूरियाँ बढ़ती जा रही हैं। आज अधिकांश परिवारों में बुजुर्ग किसी कोने में पड़े अपने अंतिम समय की प्रतीक्षा में दिन काटते नजर आते हैं। अपनी ही संतान उन्हें बेकार, फालतू और अनुपयोगी समझती है, उपेक्षित करती है। हमारी पूर्व पीढ़ी कहीं ऊब और अवसाद की शिकार हो रही हैं, तो कहीं अकेलेपन की अँधेरी गलियों में गुम हो रही है। हिन्दी कथाकारों ने समय–समय पर अत्यन्त प्रामाणिकता के साथ वृद्धावस्था की इन समस्याओं का चित्रण अपनी कहानियों में किया है। साथ ही इस बात की ओर भी संकेत किया है कि संसार में केवल माता–पिता का ही कर्त्तव्य नहीं है कि वे अपनी संतान का निःस्वार्थ लालन–पालन करें, बल्कि संतान का भी कर्त्तव्य है कि माता–पिता का आदर करें, उन्हें सम्मान दें, वृद्धावस्था में उनका सहारा बनें। जिस परिवार में वृद्धों का आदर किया जाता है, उनसे सलाह–मशविरा किया जाता है, उस परिवार का माहौल सदैव खुशहाल बना रहता है। सही समय पर रिश्तों में सही सामंजस्य स्थापित करना परिवार के लिए ही नहीं समाज के लिए भी उपयोगी हो सकता है।

संदर्भ सूची :

1. *प्रेमचन्द, बूढी काकी, सरल प्रेमचन्द बूढ़ी काकी, पृष्ठ – 3–4*
2. *उषा प्रियंवदा, वापसी, सम्पूर्ण कहानियाँ संस्करण–2009, पृष्ठ–146*
3. *गोविन्द मिश्र, साधें, वागर्थ (दिसम्बर 1999) पृष्ठ – 38*
4. *चित्रा मुद्गल, गेंद, वागर्थ (दिसम्बर 1999) पृष्ठ – 58*
5. *भीष्म साहनी, चीफ की दावत, प्रतिनिधि कहानियाँ, पृष्ठ – 18–19*
6. *विमला लाल, काश वे दिन लौट पाते, वृद्धवस्था का सच, पृष्ठ – 60*
7. *दयानन्द पांडेय, यक्ष प्रश्न, वागर्थ (दिसम्बर 1999) पृष्ठ – 132–133*
8. *नरेन्द्र कोहली, शटल, (स–गरिराज शरण), वृद्धावस्था की कहानियाँ, पृष्ठ– 67*
9. *उपरिवत्, पृष्ठ – 65*
10. *राजेश झरपुरे, कितने दीनू कितने दीनानाथ, वागर्थ (जनवरी 2008) पृष्ठ – 99*
11. *दिनेशचन्द्र झा, उसका जाना, वागर्थ (दिसम्बर 1999) पृष्ठ – 104*
12. *प्रभाकर क्षेत्रिय, वर्तमान में व्यतीत, वागर्थ (दिसम्बर 1999) पृष्ठ – 7–8*
13. *सिमोन द बुआ, बुढापे का भ्रम और सच, बुढ़ापा – 8 (अनुवाद– चन्द्रमौलेश्वर प्रसाद) 'कलम' ब्लॉग से*
14. *विमला लाल, वृद्ध समाज पर बोझ तो नहीं, वृद्धावस्था का सच, पृष्ठ – 55*
15. *आदर्श मदान, साँझ का परिन्दा, वागर्थ (दिसम्बर 1999) पृष्ठ – 152*
16. *साजिद रसीद, मौत के लिए एक अपील, हंस, (फरवरी 2009) पृष्ठ – 27*
17. *डॉ शिवकुमार राजौरिया, वृद्धवस्था विमर्श और हिन्दी कहानी।*

****